भीतर का उन्मुक्त आकाश

मधु सोनी

समर्पण



बहती रहो : मां

एक अहसास है
तुम्हारा नाम
कि बह रही हो तुम
अंत:सलिला की तरह
मेरे भीतर -
ताजगी देती
ताकत देती
ध्येय की तरफ इंगित करती
संजीवनी देती !

· मधु सोनी

अंतर के मुखर स्वर

कविता शब्दों की कला है और शब्द भाषा की उपज है। भाषा मनुष्य का, मनुष्य-समाज का सृजन है । निश्चय ही भाषा मुझे अपने घर-परिवार, अपने विशाल मानव-समुदाय, अपने परिजनों-गुरुजनों और साहित्यकारों की कृतियों से दाय रूप में व सम्पर्क-संसर्ग, विचार-विनिमय व स्वाध्याय से मिली है । पर शब्दों की कला मुझ तक कैसे पहुँची याकि मेरे भीतर कैसे उपजी, यह मेरे लिए आश्चर्य का विषय है !

साहित्य से बेशक मुझे अनुराग रहा है । यशस्वी कथाकारों की कालजयी कृतियां पढ़ने में मेरी उत्कंठा और चेष्टा बराबर बनी रही है, पर कविता के प्रति लगाव होना और अपने भीतर के भावों-विचारों को कविता में अनूदित कर पाना, वाकई मेरे लिए दूर की बात थी – सोच से परे ।

कॉलेज-काल में सहेलियों के संग विविध विषयों पर चर्चाएं होतीं, जीवन से जडे नाना मुद्दों पर कभी हल्की, तो कभी गंभीर बहसें होतीं । पर वे बातें तो मेरी कलम से निबंध या कहानी के माध्यम से आनी चाहिए थीं । किसी विषय को कविता के मुहावरे में ढालने के लिए जैसा कौशल और संवेदना का ताप आवश्यक होता है, उसका मेरे पास नितांत अभाव था, फिर भी कविता विधा को मेरे अंतर्मन ने कैसे अपना लिया, इसका मेरे पास कोई खास उत्तर नहीं है । भला राजनीतिशास्त्र की एक विद्यार्थिनी का कविता से क्या वास्ता ?

शब्दों ने मुझे हमेशा आहत किया है, संवेदित, उद्वेलित, आह्लादित किया है । हिन्दी साहित्य की विद्यार्थिनी न होते हुए भी मैं हमारी उस समय की एक हिन्दी की प्रोफेसर की वाक्-छटा से

इतनी आकर्षित थी, कि उनकी कक्षा में प्रायः व्याख्यान सुनने चली जाती। उनके मुँह से निकले शब्द जीवंत लगते थे और गीतों-कविताओं के अर्थ अपने-आप खुलने लग जाते थे। उनके शब्द भिगोते भी थे और सोच का उन्मुक्त आकाश भी देते थे। लगता है मेरे अवचेतन में वही शब्दवेधी धारा प्रच्छन्न रूप से बहती रही, जो आगे चलकर इन कविताओं में प्रकट हुई है।

आंखों ने जो देखा, हृदय ने जो महसूस किया, स्मृति ने जिसे प्रमाणित किया और बुद्धि ने जिसे 'पास' किया, उसी का एक अजीब-सा रसायन अंत:करण में तैयार हुआ, और कविता बनकर सामने आया है। बाहर-भीतर की अनेक समस्याओ - विसंगतियों पर अपने-आप से संवाद करते-करते मुक्त चिंतन का यह जो आकाश उघड़ा है, यह सिर्फ मेरा ही नहीं है, हम सबका साझा है। साझे हर्ष-विषाद, साझा-चिंतन, समस्याओं के तल तक पहुँचने की साझी दृष्टि।

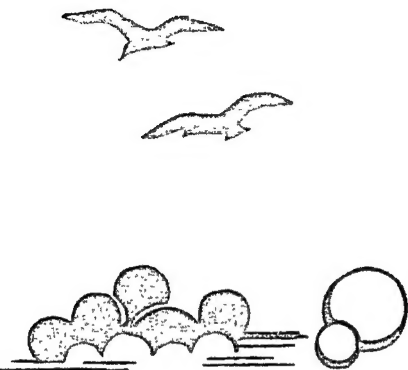
इन कविताओं के बारे में क्या कहूं, ये स्वय कहने में सक्षम हैं। सर्वाधिक खुशी इस बात की है कि मेरी इन कविताओं को देश के यशस्वी कवि-गीतकार-चिंतक श्री हरीश भादानी ने बड़े ही मनोयोग से पढा है और इनके बारे में जो कुछ लिखा है, वह मेरा मार्ग-प्रशस्त करने के लिए पर्याप्त है, बल्कि पाथेय स्वरूप सदैव मेरे साथ रहेगा।

मेरी काव्य-यात्रा तथा स्वाध्याय को मेरे घर-परिवार के पूज्य बड़े-बुजुर्गों का जहां निरंतर आशीर्वाद मिला है, वहीं मेरे जीवन-साथी श्री सुनील की प्रेरणा व प्रोत्साहन भी कम उल्लेखनीय नहीं रहे।

अल्पतम समय में इस पुस्तक के इतने सुंदर प्रकाशन के लिए कलासन प्रकाशन के श्री मनमोहन कल्याणी ने जो श्रम किया है, उसके लिए मेरा आभार। राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ने पुस्तक प्रकाशन सहयोग योजना के अंतर्गत इसकी पांडुलिपि पर जो आर्थिक सहयोग स्वीकृत किया है, उसके लिए अकादमी को बहुत धन्यवाद।

मधु सोनी

कविता-क्रम



इतने करीब अपने

पगडंडी

कविता भले ही
तुम्हारे लिए
हवाई हो,
गोष्ठी हो,
संवाद हो
या सुपरफास्ट ट्रेन हो
अंतर्यात्रा की,
मुझे तो
कविता लगती है पगडंडी
जिससे होकर
जा सकूं जन-जन तक
समझ सकूं व्यथा-कथा
जन-जन की
और कर सकूं उपचार-
कुछ तात्कालिक,
कुछ सामयिक,
कुछ स्थायी।

उन लोगों ने तो
बोये हैं
कांटे ही कांटे
तुम्हारी, हमारी
सबकी राहों में
और छिपे रहते हैं
सफेदपोश
शालीनता का लबादा ओढ़े।

सड़कों, राजमार्गों,
फुटपाथों, चौराहों

विशाल मैदानों
और
नभ-जल मार्गों तक
विस्तार है
उनके छल का,
एकछत्र
अधिपति हैं वे
उपलब्ध ससाधनों के।

पर बोलो -
जीवन के कई-कई कोणों
और ध्रुवों को
जोड़ती है जो
और देती आई है सामर्थ्य
जन-जन को,
वह पगडंडी
क्या हुई है कभी उनकी ?

तुम तो
फिर भी
बहुत समीप हो कविता के,
क्योंकि
चाहते हो संवादित होना,
और
यही तो करती है कविता,
पगडंडी भी
करती है यही,
देती है सामर्थ्य जुड़ने का
जन-जन से,
बतियाने का
और सहचिन्तन का।



आश्वस्ति

बहुत बेजां लगता है उन्हें
सुनकर
कि मैं
कविता लिखती हूं।
कई तो अपनी
गोल-गोल आंखें
टांग देती हैं
मेरे चेहरे पर,
जैसे कह रही हों –
अच्छा ?
तुम, और कविता ?
ये मुंह और मसूर की दाल ?

कई हिकारत से
नख-शिख देखतीं
निकल जाती है पास से,
जैसे कह रही हों –
कौनसा बड़ा मीर मार लिया ?

कइयों के लिए
यह सब
फालतू का शगल है,
कहती हैं –
इससे तो अच्छा था
पापड़ बेलना सीख लेती,
चार पैसे तो हाथ में आते !
कविता से तो

सब्जी-मंडी मे
किलो भर
टमाटर भी नहीं देगा कोई !

अपनी और अपने आसपास
सरसराती जिंदगियों के
टूटते-बिखरते
धागे बटोर कर
ईमानदार
अभिव्यक्ति देना
और उनका
कविता में अनुवाद करना
नितांत फालतू काम है,
और मैं
सौभाग्यशाली हूं
कि यह फालतू काम
मेरी चेतना
मेरे जिम्मे डालकर
कितनी आश्वस्त है।
❑

जन्मदिन

जिस दिन
सच्चा शब्द मिला
तुमको प्रामाणिक,
नयी कली-सा कोमल,
रसमय,
घुमड़ उठा
भीतर के नभ पर
नये मेघ-सा,
बरस पड़ा
प्यासी धरती पर
अर्थयुक्त हो —
कण-कण भीग उठे
उत्कंठित,
फिर से फूटे अंकुर
पाकर
ताप-नमी
तेरे चिंतन की,
उस दिन
कवि !
तू ही जन्मा था
रचना बन कर ।
❑

अनुभव, अभिव्यक्ति और आनंद

हर आदमी
प्रतिदिन प्रतिपल
गुजरता रहता है
किसी न किसी
अनुभव से।

अनुभव को
अभिव्यक्त कर पाना
आसान नहीं होता
हर किसी के लिए,
शायद कोई
अपने अनुभवों को
अधिक गंभीरता से प्रकट करे –
संवेदनशीलता के कारण।

कुछ अनुभव
मेरी झोली में भी आए थे कभी,
जिन्हें मैंने
शब्दों की पोशाक पहना कर
छोड़ दिया।

वर्षों पहले
खुद के जिये
खुद के लिखे
शब्दों को फिर से पढना
देता है निराला आनंद।

पूछती, खुद से कई बार –
क्यों लिखती हूं मैं
क्यों पढती हूं ?
उत्तर मिलता है :

मेरी अपनी गरज से।
पुस्तक पढ़ती हूं
परिस्थिति को पढ़ती हूं
या इंसान को पढ़ती हूं
तो उसमें
मौजूद रहती है
मेरी अपनी गरज।
लिखना भी
मेरी अपनी
भीतर की गरज है।

लिखती हू मैं जब
तो अभिव्यक्त करती हूं
किसी न किसी तरह
अपने चैतन्य को।
चैतन्य को
सीमित रखना
सिर्फ अपने तक
हर्गिज गवारा नहीं मुझे।

कोई वस्तु
अकेले-अकेले देखें
पढ़ें-सुनें अकेले-अकेले
तो अधूरा रहता है।
आनंद।

जब भी कोई
प्रवाहित कर देता है
ऐसा आनंद
तो वह पूर्ण होता है
न सिर्फ मेरे लिए
वरन् सबके लिए।



संगीत

रेडियो पर
सुन रही थी
किशोरी अमोलकर का संगीत
और आंखों के सामने
उभर रही थी
भव्य महलो
मंदिरों की नक्काशियां –
बारीक,
कलात्मक
गतिशील।
संगीत भी तो
वास्तु-शिल्प है नाद का,
स्वर का,
प्रतिपल
आनन्द देने वाला,
संग बहा ले जाने वाला –
शीतल सोता
जल का,
निर्मल !
❑

बहती रहो, मां !

नदी के सूखे
सूने पाट की तरह
आज सूना है तुम्हारा बिस्तर
पर अंदर ही अंदर
बहने वाली धारा की तरह
बह रही हो तुम
मेरे भीतर -
थपकियां देती
प्यार से दुलराती
बलैयां लेती
बतियाती
संस्कार सींचती।

तुम्हारी बाहों में
विशालता नजर आती थी मुझे
आकाश जैसी,
और गोद –
जैसे पसरी हो पूरी वसुंधरा
इस छोर से उस छोर तक !

तुम्हारी याद आते ही
महकने लगती है
एक अगरबत्ती
मेरे भीतर
और बजने लगती हैं घंटियां
आरती-वेला की
रह-रह कर !

एक अहसास है
तुम्हारा नाम
कि बह रही हो तुम
अंतःसलिला की तरह
मेरे भीतर –
ताजगी देती
ताकत देती
ध्येय की तरफ इंगित करती
संजीवनी देती।

तुम्हारी झोली
भरी रहती थी सदा
रहस्य-रोमांच से
मनोविनोद से
नेम-धरम से
कथा-वारता
और पुण्य-करम से,
श्रेष्ठ परंपराओं
और
पर्व-त्यौहारों के
सांस्कृतिक वैभव से!

तुम्हारा दिया हुआ
इतना सारा है मेरे पास
कि उसके सामने
छोटा पड़ जाता है
कुबेर का कोष।

जब भी
हावी हो जाता है

अकेलापन,
खो जाती हूं मैं
तुम्हारी यादों के
नंदन-वन में
वहां की हरीतिमा में,
शीतलता में,
स्वस्थ प्राणवायु में,
वैविध्यपूर्ण सौंदर्य में
तो मिलता है
ऐसा सुख, मां।
कि कहने को
शब्द नहीं हैं
मेरे पास!

बस, तुम
बहती रहो, मां।
इसी तरह
मेरी
यादों की सीढ़ियों से टकराती
भिगोती
छप-छप छलकाती
स्नेह बूंदें,
बहती रहो, मां।
❑

तस्वीर

मां !
तुम्हारी दृष्टि –
उड़ते परिंदों से भरा
उन्मुक्त आकाश।
तुम्हारी याद –
महकती रातरानी
या जुही के लता-मंडप से गुजरती
शीतल-मंद हवा।
तुम्हारा स्पर्श –
जैसे पारिजात की
अधखुली आंख या जल-भरे बादलों का
तन को भिगोकर गुजर जाना।
तुम्हारे चेहरे पर छाया
विषाद का झीना-सा आवरण -
ममतामयी रात का सूनापन।
तुम्हारी तस्वीर पर
जब भी पड़ जाती है नजर
भर आती हैं आंखें
और जैसे
एक छोटी-सी बदली
उमड़ आती है,
तो टपकने लगती हैं
शाखों से बूंदें
टपाटप।



औरत - एक

मुझे नहीं पता
किस काली-पीली अमावस को
या शुक्ल पक्ष की
किस तिथि को,
किस छोटे-से गाँव की
धूल-भरी गली के
संकड़े-से
मकान के कोने से
शुरू की होगी उसने
अपनी जीवन-यात्रा !

आज
सित्तर पार की वय में भी
हृदय में हैं
आकांक्षाएं
और हाथों में
कर्म का कौशल।
बैठी है
पीढ़ा ढाल कर
अपनी झोंपड़ी के
गोबरपुते आंगन में,
कातती ऊन
बुनती लोई
ताकि बचा सके औरों को ठिठुरन से
खुद
ठंड के हजारों आघात झेलते हुए !

अपनी जीवन-यात्रा के
उस दीर्घ प्रवास मे
न जाने
कितने-कितने सपने
झर गये होंगे
समय की पलकों से।

शुरू में
घर मे अनेक निषेधों की
कंटीली बाड़वाली
गहरी छाया में
पली थी वह,
फिर मिली थी उसे
मौन सुरक्षा
पति के घर की,
गूंगेपन की कीमत पर!

एक ऐसा अवसर भी
आया था
उसके जीवन में,
जब रंगहीन
आश्रय मिला उसे
बेटे का,
और
अव्यक्त भय से थरथराता
जीवन भी जीया था उसने
अपनी पुत्रवधु के सहारे।
और अब
पार करके
जिंदगी के सारे पड़ाव

बैठी है एकाकी
खुद के सहारे।
झोंपड़े के बाहर
मांडने मांडती,
गोबर-लिपी दीवारों पर
कलात्मक
रेखांकन उभारती,
कभी
कपड़े के सुग्गे-बिल्लौटे
तो कभी
बंदनवारें बनाती।

आकांक्षाएं जीवित हैं अभी
क्योंकि
उसका नाम है औरत!
सर्जक है उसका मन
और तन भी।

उसकी भी
एक सृष्टि है अपनी
ब्रह्मा की सृष्टि के समानांतर,
ब्रह्मा से
कम न आंकें उसे
क्योकि वह औरत है
सर्जक है
ब्रह्मा है
अपनी सृष्टि की!


औरत : दो

सभी कहते हैं
तू अन्नपूर्णा है,
तू शक्ति है, नव दुर्गा,
तू साक्षात् विद्या है
पुस्तक धारिणी।
पर हकीकत यह है
कि अन्नपूर्णाएं
दाने-दाने को
मोहताज हैं आज!
पेट भरने को
न जाने
क्या-क्या जतन
नहीं करने पड़ते उन्हें!

शक्ति की अधिष्ठात्री
नवदुर्गा
खुद अशक्त
और कमजोर है आज
भेड़ियों की हविश से
खुद को बचा पाना
मुश्किल है उसे,
तो भला
किसी और को
कैसे दे सकती है वह ताकत?

पुस्तक धारिणी शारदा
पुस्तकें जरूर थामे है
हाथों मे,

औरत : तीन

सड़कें बनाती है वह
तगारिया ढोती है
खेती में खटती है।

दिन-दिन भर
सडकें बुहारती
नालियां साफ करती
गड्ढे खोदती
गिट्टिया तोड़ती है वह।

भट्टी पर बैठी
घन की चोटों से
लालसुर्ख लोहे के
बनाती है औजार –
फावड़े-कुदाली,
हल और खुरपी।

कौनसा बोझ है
जो नहीं ढोती वह?
सिर पर थैला सीमेंट का
एक जीव पेट में
एक पीठ पर लादे
चढ जाती है
कोलोनी की

बनती किसी बिल्डिंग की
चौथी मंजिल तक।

जीवन से जुड़ा
कौनसा धंधा है
जिसमें पति के साथ
पूरे जी-जान से
मजदूर की तरह
नहीं जुटती वह।
फिर भी उसके पास
पैसा नहीं होता
बैंक में खाता नहीं होता
घर का पट्टा नहीं होता
जमीन-जायदाद नहीं होती
मुखापेक्षी बनी रहती है वह
जीवन भर!



औरत : चार

मेरे पास कुछ रिसते जख्म
खरोंचें, चीखें
और टूटे आइने हैं
कुछ आकृतियां हैं
कोहरे और धुंध मे कोरी हुई,
बस, मैं ही नहीं हूं मेरे पास।

ढूंढना मत मुझे
खो देने की भी
होती है एक कसक
एक चैन-भरी बेचैनी
बस, उसे ही रहने दो मेरे पास!

आहों से
दीवारों के रंग तक
हो गये है बदरंग,
बेरहम दीवारें निर्मम होकर
दफना देती हैं
असहनीय वेदना से निकली
चीखों को
अपने सर्द कब्रिस्तान में!

रोशनी भी
शरमसार हो जाती है
यहां तक आते-आते,
देखती हुई भी सब कुछ
गूंगी का अभिनय करती

रिपार्ट तक नहीं करती
मेरी बदहाली का,
जैसे शामिल हो मेरे खिलाफ
किसी षड्यंत्र में।

यहां न कोई भाई है न बंधु,
न ईश्वर, न कृपा-सिंधु,
साबका पड़ता है मेरा रोज
उन-उनसे
जिनके नाम सुनकर ही
जायका बिगड़ जाता है मुंह का
अच्छे-अच्छों का।

मुक्ति की बातें,
ताकत देने की बातें
सुनती हूं मैं लगभग हर रोज,
हर कहीं
सयानों-समझदारों से,
पर महज बातों से
क्या कोई पहुंचा है भला
षड्यंत्रकारियों के तलघरों तक?

पर बातें ही हैं उनके पास
और यही मजबूरी है उनकी,
जबकि बदहाली में जीना
मेरी मजबूरी है
क्योंकि मैं मैं हूं,
एक अदद औरत!
❑

घर-संसार

वे सूर्य है मेरे घर में
नक्षत्रों की तरह
बेटे-बहुए
पोते-पोतिया,
नाती-नातिने
उन्ही से पाते हैं
प्रकाश और ऊष्मा
निर्देश और परामर्श,
उन्हीं के चारों ओर
काटते रहते है वे चक्कर
एक निश्चित वृत्त में —
वे ससुर हैं मेरे !

उन्हीं से प्रकाशित
चांदनी-सी शीतल व शुभ्र
तुलसी-क्यारे-सी पावन
मेरी सास
सहेजती है मुझे प्रतिपल
मां की तरह
और खुश होती है
मेरी वढोतरी देखकर।

जेठ- जेठानी
चाहे वसते हो परदेस
पर वे
शाखायें हैं
इसी वटवृक्ष की,

कमलनाल-सा रिश्ता
बना रहेगा
जीवन-भर।

देवरानी
खूबसूरत मेंहदी है
मेरे हाथों की
हमसफर मेरे जीवन की,
कितना मान!
कितना प्यार!!

यह घर
मां के घर जैसा प्यारा
उल्लास भरा,
भरपूर आजादी है —
पढ़ने की
बढ़ने की
और
अपने मन की
कलाकृतियां गढ़ने की!
❑

अभिलाषा

तू आ
मेरी देह को
अपनी नन्ही-नन्ही हथेली से
थपथपाता
छोटे-छोटे पैरों से
पेट मे लातें मारता,
मेरी देह को
खंड-खंड
अनगिनत टुकडों में बांटता
तू आ।

आ, कि तेरे लिए
मेरे गीत
कंठ में अटके पड़े हैं,
लोरियां सिसक रही हैं
चांदी की करधनी
और पैंजनी
तेरी राह देख रही है,
जादुई कहानियों वाली
परियां
हाथों मे
चमचमाते चांद-तारे लिए
कब से
अनमनी बैठी है।

देख,
चिड़िया फिर से
रचने लगी है घोंसला

फुदकता हुआ
उसका नन्हा बच्चा
सोच रहा होगा
तेरे संग खेलने की।

देख,
मैंने कलैंडर उलट दिया
बरसों की गणना
छोड़ दी,
जैसे कल ही
याद किया हो तुझे
ऐसे,
हाथों में सलाइयां लिए
बुन रही हूं कुछ
तेरी खातिर।

अरे,
ऊष्मा के लिए तो
पूरी देह हाजिर है
और पोषण के लिए
विधाता का दिया
यह आंचल
उमड़ रहा है
उफन रहा है,
आ,
अब तो आ जा!
❑

भारहीनता

दोस्ती की परिभाषा
तुम्हारे पास है।
दूसरे तो
फूलों से लदी डाली पर
पाव भर का बाट रखते
देर नहीं करते,
बिना सोचे
कि नतीजा क्या होगा ?

तुमने कहा था,
दोस्ती हो तो
फूल और तितली जैसी
जहां न तन का भार है
न मन का।
चाहत और प्रतीक्षा
बनी रहती है दोनों ओर
एक-दूसरे के लिए।

दोस्ती का
अपना ही
निराला तराजू होता है
जो दिखता नहीं
पर महसूस कर लेता है भार।

सच्ची दोस्ती
न भार गिनती
न भार को ढोने से डरती।

भारहीनता की दशा में
दोस्ती ढो लेती है टनों भार
और चूं तक नहीं करती।





समय साक्षी है

और टी वी तक
छा जाती है।
पैरों में
आ जाती है
नयी जान,
सीने में नया उछाह
और चाल में
तूफानी रफ्तार।

मगर इंसान
जानते हुए सभी कुछ
बना रहता है अनजान,
देखता रहता है
टुकर-टुकर,
डरता है रफ्तार से
डरता है वक्त की मार से
डरता है बदलाव से
बद्धमूल विचार से
मौला-पंडितों से।

क्या उसकी नियति में
लिखा है यही
कि डरता रहे
बदलाव से,
और मरता रहे
प्रतिपल,
बेमौत,
मौत आने से पहले ?
डरता रहे
और मरता रहे ?


सूझ

जहां रास्ते का
अंत आता है
वहीं से
शुरू हो जाता है
नया रास्ता।
पर हम
ऐसा नहीं मानते,
यही तो संकट है
हमारी समझ का।

प्रत्येक रास्ता
निकलता है
हमारे पदतल से ही,
क्षण दो क्षण
निरर्थक लगते हैं,
मन भर जाता है
खिन्नता से,
जी होता है
लौट जाने का
पर सभी कुछ है
अर्थहीन,
ऐसा मानने को
जी नहीं करता।
❑

घाव करें गंभीर

रिश्तो की घनिष्टता
एक छलावा, एक मरीचिका है
भोले मृगो
और मृग-शावकों के लिए,
जहा न चाहते हुए
गवाने पडते हैं उन्हे अपने प्राण
भटक-भटक कर ।
रिश्तो की पवित्रता
प्रामाणिकता
प्रगाढता और अंतरंगता
कर देती है बाध्य
समर्पण के लिए
और बेचारे भोले कपोत
फंस जाते हैं
शातिर बिल्लियों के चंगुल में ।
सगे रक्त-संबधों को लेकर
ईमानदारी से
अपना सब कुछ
प्रकट कर देने वाले नहीं जानते
कि छले जा रहे हैं वे ।
जबकि भेडिये
उनकी देह में घुसकर
न जाने कब से गिन आते हैं
उनकी तमाम आंते और हड्डियां ।
ब्लेड से भी महीन होती है धार
उनके वाणी-व्यवहार की ।
कहने वाले भ्रम में न रहे

इसलिए वे मुस्कराते है,
गंभीर मुद्रा बनाकर सुनते है,
संवाद का साग भरते है,
पर हकीकत में
राडार की तरह
टोह लेते है वे भोले सबंधी की,
और वक्त आने पर
हड़प लेते है सभी-कुछ
रक्त-संबंधों की दुहाई देकर।
इस्तेमाल करते हैं वे
उनकी बताई एक-एक बात को,
घटना और दस्तावेज को
खुद अपने हक मे।
रिश्तो की भूलभुलैया में भटके
भोले लोगों को नहीं पता
कि कूटनीतिज्ञों के लिए
उनका रिश्ता कम नहीं होता
कुबेर के खजाने से।
जब चाहे
'खुल जा सिमसिम-सिमसिम' की तरह
वे स्वयं खोल लेते हैं
सुख-सुविधा और वैभव के द्वार,
और हंसते हैं 'विलेन' की तरह।
ऐसे में यदि रिश्ते
रिसने लगते हैं
घावों की तरह
तो कैसा आश्चर्य?
❑

ज़िंदगी

तुम
पूर्णविराम बताते हो
जहा,
वहां अत नहीं है
वाक्य का।
पूर्णविराम याने मृत्यु,
पर ज़िंदगी
नहीं जानती
मृत्यु को,
वह तो
बहती रहती है
अनथक,
प्रवास पर रहती है
हमेशा।

यात्रा में
विश्राम ले लिया कहीं
क्षण भर
तो क्या ?
फिर से हो जाती है शुरू
उसकी यात्रा
सूरज उगने के साथ ही,
जो एक शाश्वती से शुरू करके
बहती रहती है
निरंतर
दूसरी शाश्वती तक,
यही तो है
ज़िंदगी !
❑

सीख

जिन्दगी जीनी है,
मुझे, तुम्हें, हमें
सहज ढंग-से,
सबके साथ
मिलकर,
सब की
गति के अनुकूल
चलकर
जैसे चलते हैं
ग्रह
अपनी धुरी पर
और
अपने वृत्त में भी –
परस्पर
आकर्षण में खिंचे,
वैसे ही
क्या हमें
अपनी गति को
बनाये रखते हुए
दूसरों की गति के अनुकूल
चलने की सीख
नहीं लेनी चाहिए ?
❑

ऋतुचक्र

सुख में
इतना छक जाता है आदमी
कि उसे
दुःख शब्द का अर्थ तक
समझ मे नहीं आता।
उस नशे मे
इतना डूबा रहता है वह
कि दूसरो को
हो सकता है
कोई सुख या दु:ख
इसकी बारहखाड़ी तक
पढ़ नहीं सकता।

सुख का होता है
एक मौसम
और दुःख का भी।
मौसम का ऋतुचक्र
चलता रहता है
निरंतर
और सत्य यह है
कि मौसम
चिरस्थायी नहीं रहता कभी।

ऐसे मे
मौसम-सूचक
मुर्गे की भाषा
न पढ पाने वाला
हर्गिज नहीं रह सकता
नफे में।



वर्तमान

समय जम गया है
पैर कट गये हैं उसके
बैसाखी भी नहीं है
चलने को उसके पास,
ठहरा हुआ है
सब-कुछ
किसी
डरे हुये आदमी की तरह।

कुछ भी
अच्छा नहीं लगता
किसी को,
हवा रुक गई है
मानो
सांस अटक गई हो
प्रकृति की।
कोई चीज हो
तो संभव है
ले जाना उठा कर उसे
पर समय को
कैसे ले जाएं?
सर्द हवाओं के
अनथक थपेड़ों से
ठूंठ बनकर रह गया है वह!

उसके होठों पर लहराता
गति का गीत भी
पथरा गया है

जमकर।
खिड़की-दरवाज़े बंद हैं सब,
सुबह-शाम का
होश तक नहीं रहा,
चींटी भी चलती है
तो होती है उसे
ईर्ष्या।

अपने ही
सर्वनाश के बीच
होश गवा कर पड़ा है
संज्ञाहीन।
सड़कों, मकानों, जीनों
ड्राईंगरूम, चित्रों, गानों
आशा-विश्वास
आंसू-मुसकान
श्रद्धा-अनुराग
किसी की पहचान
नहीं रही उसे!

सूरज को
बरफ के गोले की तरह
चूस नहीं सकेगा वह,
पूर्वजो से
कोई रिश्ता नहीं रह गया
जबकि गति बन गई
व्यथा की दंतकथा।



अन्तर

तुम्हारी तरह
कहा मिल पाता है मुझे
इतना खाली वक्त
कि आईब्रो
या मेनीक्योर
या हर्बल-मसाजिंग की बात
सोच सकू
और इनके लिए
किसी शहनवाज के क्लिनिक से
एपोइंटमेंट ले सकूं।
न मुझे मैचिंग-ब्यूटी बनना
न हेयर-ड्रेसिंग करानी
ये चोंचले
तुमको ही मुबारक।

यहां तो
घर-गृहस्थी
और स्कूल की घंटी के साथ
सामंजस्य बिठाने,
बच्चों को होमवर्क कराने
और
स्कूल के लेसन-प्लान में ही
खाली हो जाता है
दिमाग।
दस से पांच तक
सिर चाटता
पांच-सौ बच्चो का हाई-वोल्युम शोर

और हर क्लास में
बराबर चीखते-चीखते
गला फाड़ते-फाड़ते
न जाने
कितने-कितने टुकड़ों में
टूट जाती है यह देह,
कि अगले दिन के लिए
फिर से
उसे साबुत करने में
करनी पड़ती है जो मशक्कत
उसे भुक्तभोगी ही जानता है।

पूरे तीस दिनों तक
चक्कर लगा लेने के बाद
जो हाथ में आता है
उससे
न मेनीक्योर हो सकता
न मसाजिंग,
और फिर
ये सब आउट-ओफ-कोर्स हैं
मेरे लिए।

तुम जन्मी हो
चांदी का चम्मच लिए
मुंह में,
किंग मीडास की तरह
तुम जिसे छू लो
वही बन जाता है अनमोल,
पर तुम्हें
क्यों होगी मेरी पीड़ा ?

तुम क्या जानो
दिन-दिन भर
भार ढोने वाले पैरों का दर्द ?

तुमको चाहिये
देह का शृंगार
जबकि हमें चाहिये
पेट-भर आहार।

यह फर्क
समानांतर चलने वाली
दो पटरियों की तरह
चलता जाएगा
दूर तक,
मिल पाना
लिखा नहीं है
उनके नसीब में,
क्योंकि
जीवन-शैली का अन्तर है यह,
एक गहरा
सांस्कृतिक अंतर,
भला तुम
कैसे मिटा सकती हो इसे ?


व्याख्या

कहते हैं ज्ञानी-ध्यानी
जती-जोगी
कि प्रेम दें और प्रेम लें।
दिये बिना
कुछ उम्मीद रखना
वैसा ही है
जैसे हथेली के बिना
हाथ की बात!

आप समय न दें किसी को
और उम्मीद रखें
कि सामने वाला
बरते-व्यवहार करे
आपकी इच्छा आकांक्षा के मुताबिक?
क्या यह
वन-वे ट्राफिक नहीं?
साइलैंस-जोन नहीं?

इसका अर्थ यह नहीं
कि संबंध सौदा है।
एक ही व्याख्या हो सकती है
संबंध की —
समझदारी।
समझदारी-विहीन प्रेम
बिल्कुल वैसा ही है
जैसे जड़-विहीन वृक्ष!


सर्कस की विचित्रता
तब लाजवाब लगने लगती है
जब
अहंकार का सिंह
रिंग मास्टर के होते हुए
खुद बन जाता है
रिंग-मास्टर
और हम
घूरते रह जाते हैं
उसका बिजली जैसा
हंटर देखकर।

कितना ही क्यों न कहते रहें
कि मना रहे हैं हम
उत्सव जीवन का,
पर वस्तुतः
हम अपना ही जीवन
बना देते हैं तमाशा।

और-और परछाइयों के सर्कस में
भटकने से
बेहतर यही होगा
कि चलते रहें
अपनी ही परछाईं पर
पैर रखते
ताकि
कम से कम
तमाशा होने से तो बचें!
❑

पुनर्जन्म

वन-प्रांत में खड़ा था
विशाल वटवृक्ष
दूर-दूर तक फैली थी
मोटी-मोटी शाखायें
लदा था सघन हरे-हरे पत्तों से,
अनगिनत परिंदे शरण पाते थे
उसकी आगोश में।
एक दिन
वटवृक्ष के जी में आया
क्यों न अपने जैसा
विशाल वटवृक्ष एक और उगाये!
अपनी लंबी-लंबी जड़ें
नीचे डालकर
धरती से कहा:
तुम्हारी कोख से
एक बार फिर जन्म लेना चाहता हूं।
हर्ष की सीमा नहीं थी धरती की
वटवृक्ष का बीज
सहेजकर रख लिया
उर्वर-प्रदेश में,
कुछ अर्से बाद
धरती के गर्भ से उदित हुआ
एक नन्हा
वट-शावक!



रूपगर्वी

नदी किनारे
तन कर सीधा खड़ा
खजूर का पेड़,
दूर खड़े
अपने भाइयों की बजाय
स्वयं को
सौभाग्यशाली मानकर
इतराता था
मन ही मन।

वाह!
क्या निराला आनंद है
धारा के दर्पण में
अपना रूप निरखने का!
कैसा अद्भुत आनंद है
धारा का
स्वच्छ-निर्मल
जल पीने का!
कितना मजा आता है
जब नाव में बैठे सैलानी
कैद करते नहीं थकते
मेरी छवियां
अपने कैमरों में।
मेरे ही कारण
लगते हैं
चार चांद
प्राकृतिक-सौंदर्य की छटा में!

किसी भी आशंका से निश्चिंत
रात को
आकाश में
देख रहा था वह
तारों की बारात,
कि एकाएक
जोरदार थपेड़ा लगा
नदी की
प्रबल वेगवान धारा का,
और पलक झपकते ढह गई,
बह गई उसकी
खूबसूरत काया
नदी की गंदली धारा में,
जिस पर इतरा रहा था वह
रूपगर्वी!



जीवन की स्वीकृति

बड़ा खूबसूरत बना था मकान
तिमंजिला
नीचे विशाल तलघर
ऊपर खुली छत
और लंबी-चौड़ी
बालकनी।

एक रोज खड़ी थी
मझली मंजिल पर
कि तभी
सुनने को मिला
अनहोना संवाद —

'अहंकारी,
प्रमादी कहीं का!
पड़ा रहता है
दिन-रात
गद्दे तोड़ता
मसनदों के सहारे
अकेला
अजगर की जूण भोगता,
न किसी का मुंह देख सकता
न दिखा सकता
अपनी शक्ल,
क्या किस्मत पाई है?'

बोल रही थी बालकनी
तलघर से -
'यहां देख,

क्या खुली हवा है,
खुला आसमान है
पक्षियों से चहचहाते
आबाद वृक्ष हैं,
और तरह-तरह के
फूलों की महक
तृप्त कर देती है
अंतरतम को !'

'रहने दे, रहने दे',
पलटवार किया
तलघर ने –
'बडी आई शेखीबाज !
खुला आकाश निरखने वाली !
और दूसरों को
छोटा समझने वाली !
हवा, महक, पक्षी,
फूल और वृक्ष
क्या यही काफी हैं
इतराने के लिए ?
गर्मियों में
किस कदर तपती है
सर्दियों में
किस कदर ठिठुरती है
आंधियों में
आंखों से देख तक नहीं पाती,
क्या ये सब भूल गई ?'

सोच रही हूं मैं –
बात मकान की नहीं
इंसान की है।

क्या इंसान का
परिचय नहीं होना चाहिए
इन दोनो बड़बोलों से ?
तलघर मे पडे रहने का
कोई अर्थ नहीं है।

व्यक्ति का पुरुषार्थ
तलघर से बालकनी तक
पहुंचने का
होना चाहिए
ताकि देख सके
खुला आकाश।

कई लोग
फव्वारे होते हैं उत्साह के,
उछ्लते रहते है हर समय,
करते रहते हैं
वातावरण को प्रसन्न,
उन्हें कत्ताई फर्क नहीं पड़ता
कि तलघर में रहें या
घर की ऊपरी मंजिल में।

कहना चाहती हूं दोनो से –
उत्साह से बढ़कर
बांटने जैसी
कोई चीज नहीं होती,
चाहे कोई तलघर में रहे
या ऊपरी मंजिल में
स्फूर्ति में ही
जीवन की स्वीकृति है
❑

जीत

चीजों से भरी जा सकती हैं
खाली जगहें,
घर की
अलमारियां और आले भी,
बस,
दिल ही नहीं भरा जा सकता।
क्या कोई खिलौना
जगह ले सकता है
मां की
प्यार भरी ऊष्मा की ?
पिता के दुलार
और विवेक की ?
टेबल-कुर्सी
या खिलौने नहीं होते बच्चे,
चीजों से नहीं
दिल से जीता जाता है उन्हें,
वही जीत
पक्की और स्थायी होती है।


उनके शब्द

उनके बारे में तो
विख्यात है
कि किसी को
कुछ नहीं कहते,
मितभाषी इतने
कि मन करता है
नमन करने का
उनके व्यक्तित्व के सामने !
पर उनके
मुखारविंद से निकले
अल्पतम शब्द भी
यों घूमते हैं,
चक्कर खाते हैं
टकराते है
जैसे
बंद हों घर के खिड़की-दरवाजे
और भीतर फंस गया हो
कबूतर।
टकराकर
आमने-सामने की दीवारों से
जैसे लौट-लौट आता है वह,
निकल नहीं पाता उसी वृत्त से
वैसे ही
उनके मित शब्द
खिलाते हैं अमित गुलाटियां।
ऐसे में
कबीर का पद दोहराना ही
रहता है बेहतर
कि सबद की चोट
लगी मेरे अंतर ...



बालकथा का रहस्यलोक

सपने भी कैसे-कैसे आते हैं
ऊलजलूल
बेमानी
बेसिर-पैर के,
चित्र-चित्रित।

तालाब से एकाएक
ज्वालामुखी निकला,
उसमें से फूटा
विशाल वटवृक्ष -
इतना विराट कि तनों में
कितने ही महल।
तिमंजिले एक महल में घुसी
तो देखा
उसके सुरक्षित खंड में
रहते थे
गीध-दम्पति बूढ़े -
बहुत ऋतुएं देखीं थी उन्होंने
बहुत अनुभव कमाया,
यश बटोरा,
पैनी है नजर अब भी
देख लेते हैं दीवारों के उस पार
कौन क्या कर रहा है
किसे रोका जाए
किसे सराहा जाए,

वैसे फेरते रहते हैं माला
प्रतिपल, प्रतिदिन
क्योंकि दिन हैं
आराधना के
साधना के
भजन-पूजन के।
बगल के
आरामदेह कक्ष में
रहता है रंगा-सियार
हर तरह से होशियार
दिखता है भोला
पर है बम का गोला।
संग में रहती है
चालाक लोमड़ी
अपने बच्चों-कच्चों के साथ।
हृष्ट-पुष्ट भेड़िया
भटकता है घर-घर
सूंघता है दर-दर
कहां मिलेगा मावा,
कहां मिलेगा मेवा,
भर-भर थैले
लाता है पकवान नये
छकी रहती है लोमड़ी
पसरी रहती है हरदम
गद्दों पर,
चढ़ गई है चर्बी गालों पर

खूब पटती है दोनों में
गांधर्व-विवाह जो ठहरा।

तने के ठेठ ऊपर वाला नीला खंड
छू रहा है आसमान
विचरते हैं बादल
बिजली करती है पहरेदारी।
खूबसूरत महल में
रहती है
बालकथा की नायिका
गगनपरी -
एकाकी, उदास
मन में मिलन की आस
पर जिसे आना था,
अब तक नहीं आया
इसलिए खिन्न है, विषादग्रस्त।
रात होते ही
एक चूहा
न जाने कहां से
निकल आता है,
कुट-कुट करता
खोदता है बिल रोजाना।
सो नहीं पाती
बेचारी गगनपरी
परेशान है,
न कुट-कुट थमती चूहे की,
न आने वाला आता है।

सोचती हूं
गगनपरी के लिए
चलता रहे मेरा यह सपना
तब तक
कि जब तक
आने वाला न आ जाए।

जागने पर
फिर कहां होगा तालाब,
वटवृक्ष,
तिमंजिला महल,
और कहां होंगे
बालकथाओं के
ये सदाबहार पात्र !
❑



हरियल परिवेश का सत्य

शाश्वत नियम

वे बसंत का
करते हैं इंतजार
कि बागों में
आयेगी नूतन बहार
कली-कली पर होगा
निखार,
महकेगा वनस्पति संसार।
गुंजार करते आयेंगे भंवरे
और मौसम हो जाएगा मदभीना,
छा जायेगा यौवन
वृक्षों, लताओं, पौधों पर।

लेकिन देखकर भी
जो अनदेखा करें
उन्हें क्या कहें ?
क्या यौवन
एक-साथ आता है
सभी के जीवन में ?
तब क्या
बसंत आएगा एक साथ
सभी वृक्षो, लताओं, पौधों पर ?

बसंत में भी
झड़ते देखे हैं
कई पेड़ों के पत्ते,
शीत में भी
खिल-खिल जाते है
कई वृक्ष,

ग्रीष्म में भी आती है
बहार
कई वृक्षों पर,
महक उठती हैं गलियां
खुशबू से
भर जाते हैं चौक-चौराहे।
यही तो जीवन है
जब कोई एक
होता है अंकुरित
तो दूसरा होता है
जमींदोज,
जब कोई एक फैलाता है महक
तो दूसरा
होने लगता है ठूंठ,
नियम है यही प्रकृति का।
❑

सूर्य : तीन बिम्ब

प्रभात का सूर्य
मृगछौने-सा
सलौना,
चंचल-चपल,
चौकड़ी भरता
नभ के आंगन में,
इठलाता
आह्लादित करता
अग-जग को,
मोहित करता
केसरिया आभा से,
खोलता
कलियों के घूंघट
कोमल किरणों के स्पर्श से,
देता प्राणों का पोषण
सम्पूर्ण
वन-सृष्टि
और जीव-सृष्टि को।

दुपहरी का सूर्य
क्रुद्ध-प्रचंड
छिड़े हुये सूअर जैसा
दहकती आग-सी
उसांसें फेंकता,
डरपाता
अग-जग को,
धूम मचाता

नभ के आंगन में
स्यार-सी पैनी किरणों से
आंतें फाडता लोगों की
निःशंक राजवी-सा
त्रासवादी।

शाम का सूर्य
भगवांधारी तपस्वी
आकाश के
वटवृक्ष तले बैठा
ध्यान मगन -
अग-जग की
सुख-शांति हेतु
प्रार्थना में लीन।

थका-हारा सूर्य सोचता
कौन-जूझेगा
मेरे पीछे
सघन अंधकार से ?
तभी चीरकर
बादलों को,
धारदार हंसिये-सा
द्वितीया का चांद
आकर
हो गया खड़ा
पहरा देने
नभ के
आंधूणे द्वार पर !
❏

भूमिकायें

शाम की आँधियों से होकर
गुजरती रात
सिमट पड़ती है
बिल्कुल अकेली
और तब
भागती रेत के
सबसे ऊंचे टीले पर बैठी
गाती है गीत
अकेलेपन का।

न हवा को है फुरसत
ठहर कर सुनने की
न टीले के आत्म में है
संवेदना का कोई अंश,
न टिटहरी होती है व्यथित
न झाड़ियों के झिंगुरों को
कोई मतलब है उससे।
खुद ही
रचती है वह गीत
और खुद ही गाकर
खुद को ही सुनाती है।

सर्जक
गायक
श्रोता की भूमिकायें निभाना
क्या सहज होता है,
सुखद होता है ?
❑

संजीवनी

भांत-भात की डालियों पर खिले
रंग-बिरंगे फूल
कितने खुश लगते हैं
अपने समूह
अपनी बिरादरी में।
बाग का सौंदर्य बढ़ाता है
उन सबका साथ,
हवा में
तरह-तरह की महक
बिखेरती हैं
उनकी पंखुड़ियां
लेकिन
डाली पर
साथ-साथ खिले होने पर भी
क्या हर फूल
अपने में
नहीं होता अकेला ?
क्या उसे
तलब नहीं होती
अपने एकांत की ?

आकाश में
अनगिन परिंदे उड़ते हैं
साथ-साथ,
फिर भी
क्या हर पक्षी

नहीं होता अकेला
अपने में ?
क्या उसे नहीं होती तलब
अपने एकांत की ?
महासागर के उदर में
तैरती हैं अनगिनत मछलियां
साथ-साथ
दिन-रात.
सौंदर्य तो बढ़ाती ही हैं वे
सागर का,
ताकत भी देती हैं
और सुरक्षा भी
एक-दूसरी को.
पर क्या
हर मछली
अकेली नहीं होती अपने में.
क्या उसे तलब नहीं होती
अपने एकांत की ?

महानगरों के
कोलाहल भरे
अबाधित भीड़-भरे जंगल में
दिन-रात
साथ-साथ रहते हैं
अनगिनत लोग
एक-दूसरे पर निर्भर.
पर क्या
हर आदमी नहीं होता अकेला

अपने में ?
क्या हर किसी को
नहीं होती तलब
अपने एकांत की ?

एकांत अभाव नहीं
स्वभाव है
प्राणियों का,
एकांत आईना है
खुद को देखने का,
आत्म-साक्षात्कार का,
अस्मिता की पहचान का,
मुझे भी तलब है
अपने एकांत की
पर तुम्हारे साथ।
साथ का एकांत
संजीवनी है
मेरे लिए
बल्कि
हम सबके लिए!'

❑

कैसे ?

कली की कोमल पलकों पर
शबनम का भी
कम नहीं होता भार,
इस पर
दिन-दिन भर
कड़कड़ाती
सर्द हवाओं की मार
या ओलों के
नुकीले वार
काफी हैं उसे मिटाने,
धूल में मिलाने।
ऐसी ही बेरहमी चलती रही
तो कैसे जी सकेगी
नन्हीं पौध,
कैसे जिंदा रह पायेगा
फूलों का वंश,
कैसे खिल सकेगा
कोई निराला व्यक्तित्व,
कैसे निखर पायेगी
उसकी मनमोहन महक
और कैसे
सुवासित हो सकेगा
धरती का आंगन
और हमारा
थका-हारा
टूटा
अनमना मन,
कैसे ?

❑

मोरनाच

आकाश में
जब काले-काले बादल
उमड-घुमड़ आते है,
बिजली की कौंध के साथ
घोर गर्जना करते हैं
तब
'मे-आवो' की गुहार लगाता
मोर
वृक्षों के झुरमुट तले
निर्जन वन-प्रान्त में
तानकर
अपनी खूबसूरत छतरी
मस्ती में झूमकर
नाचने लगता है
तो साथ-साथ
नाच उठता है
सृष्टि का कण-कण,
अणु-अणु।

ऐसे में इन्द्र
कब-तक रह सकता है
तटस्थ
वह भी
सतरंगे इन्द्रधनु की
तान कर अपनी छतरी
छोटी-बड़ी
बूंदों की ताल पर

खुद नाच उठता है
वर्षा के बहाने।
इधर हम हैं
कि कोई नर्तक
किसी मशहूर
ऑडिटोरियम की
दूधिया रोशनी के सैलाब में
धुरंधर संगीतज्ञों के गीतों,
धुनों, वाद्य-यंत्रों पर
जब प्रदर्शित करता है
मयूर-नृत्य,
तो सृष्टि क्या
दर्शक तक
नहीं होते आंदोलित,
प्रभावित-विचलित।

कारण साफ है —
व्यावसायिकता पर
हमेशा
भारी पड़ती है
मौलिकता
और स्वाभाविकता।
बहुत आसान है
आयोजन कर लेना
मयूर-नृत्य का,
लेकिन उसे जीना —
वही तो है
असली चीज़!
❑

कोयल

जानते हैं
कोयल क्यों पसंद है मुझे?
इसलिए नहीं कि
वह मधुर-मधुर गाती है
वरन इसलिए
कि पसंद नहीं है उसे
उधार की तान
उधार का गान।
गाती है तन्मय होकर
नहीं करती
किसी से विवाद
किसी की निंदा-चुगली,
पेड़ों-पेड़ों टहूकती
उड़ जाती है आकाश में
पर
धरती पर आये बिना
नहीं रहती
क्योंकि आकाश में
कौन है प्रशंसक उसका ?

शून्य महल में
अपनी ही प्रतिध्वनि
शायद अच्छी नहीं लगती उसे
जबकि
धरती का रोम-रोम
गाने लगता है
उसके संग-संग।

न वह गाती है
किसी की फरमाइश पर
न तालियों की
तड़तड़ाहट पर,
जब भी गाती है वह
मुहर-सी अंकित करती है
अपने अस्तित्व की
और प्रकृति की लय में
मिलाकर अपनी लय
हो जाती है तन्मय,
तल्लीन !

फिर
बुलबुल या तोता-मैना की तरह
पसंद भी तो नहीं है उसे
पिंजरा
अवरुद्ध कर डालता है जो
उसकी उड़ान
उसका गान
उसकी कल्पना
उसकी मौलिकता
उसकी सृजनशीलता
उसका कंठ !

बहेलियों को क्या मालूम
कि आजादी क्या होती है ?
मौलिकता क्या होती है ?
और क्या होती है
निजता ?


भुतहा-कुआं

आकाश के सूने राजमार्ग पर
घूम रहा था अंधेरा,
काला-स्याह अंधेरा
तानाशाह की तरह
बेखौफ।
तभी दिखी उसे
लालिमा की लकीर
आकाश के एक छोर पर।

कांप उठा वह
आशंका से
कि कहीं
शमशीर तो नहीं है
यह लकीर
रोशनी की,
कहीं सर
कलम न कर डाले।

बस, लटकने लगी
भय की तलवार माथे पर
इसलिए
भटक रहा है वह
आश्रय-स्थल की तलाश में।

तभी नजर आया उसे
काले-तम अंधेरे का
अंतहीन आगार —
एक कुआं,

और कूद पड़ा
बेखौफ
अंधेरे कुएं में।
न धमाका हुआ
न चमगादड़ें उड़ीं
न कबूतर फड़फड़ाये
लेकिन दिन-दिन भर
आवाजें आती रहीं
कि कोई बाहर निकाले।

कहते हैं लोग
खाली कुआं है, अभिशप्त
यहां तो बस
भूत बसते हैं।
लेकिन लगता है
जब किसी दिन
सीर फूटेगी भीतर से
पानी की,
तो दौड़ी आयेंगी पनिहारिनें
भागे आयेंगे किसान
मेला लग जाएगा
प्यासों का,
दिन-रात खट-खट करता
रहंट चलेगा
सींचेगा खेतों को
लहलायेंगी फसलें,
तब कहां चला जाएगा अंधकार?
कहां भाग जाएगा भूत?
❑

रात, टीले और बादल

शाम की गलियों
उप-गलियों से
गुजर जाती है रात चुपके-से
और लो -
दूर के बरसात-भीगे
रेतीले टीलों पर
चमकते जुगनुओं के संग
गाती है गीत नीरव तनहाई के।
ऐसे में
अंधेरे के काले संगमरमर पर
रातरानी की सुरभि
उकेरती है हलके-हलके
तुम्हारे चेहरे की मृदु-मधुर रेखायें।
उड़ते हैं पक्षी इधर
उडते हैं उधर
ऊपर आकाश में
हर कहीं दल के दल, यों
कि चमचमाता सूरज
ढंक जाता है।
सदियों से अटल खड़े
रेत के टीले
पगलाये-से निहारते हैं
पल-पल बदलते
असंख्य रूप बादलों के!



वादा

शाम हो चुकी है
डूब गया है सूरज
घिर गया है अंधेरा
छिटक आये हैं तारे।

न जाने
क्या-कुछ नहीं होता होगा
अंधेरे के
काले साये तले
तारों की साक्षी में!

पता है मुझे
सूरज नहीं हूं मैं
कि काट डालूं
अंधेरे की लौह-सलाखें।
मजबूरी है
सूरज की भी —
फिर से अगले दिन
उगने का वादा करके
ढल जाना
बहुत मुश्किल होता है
सूरज के वास्ते।

पर निराशा किस बात की?
अविश्वास भी क्यों?
अरुणिम आभा तो फूटेगी ही
सवेरे
और तब

पीछे-पीछे आना ही पड़ेगा
एक पहिये वाले
रथ पर सवार
दमकते सूर्य को।

दुनिया में
दूसरा कोई निभाये, न निभाये
सूर्य को तो
निभाना ही पड़ता है
अपना वादा,
क्योंकि उसे
अंधेरे को ही
चकनाचूर नहीं करना होता,
खिलाना,
पनपाना
महकाना होता है
सृष्टि के कण-कण को भी!
❑

पत्ता

वृक्ष पर लगे
छोटे-से पत्ते को
ध्यान से देखा है कभी ?
कितना कोमल
कितना मुलायम
फिर भी
गजब की अंत:शक्ति,
कि झेलता है
हवा-अंधड़
ताप के अगणित आघात,
और अंत मे
सोने-सी दमकती
स्वर्णिम आभा लेकर
झड़ जाता है वह !

कितनी सुंदर है
सम्पूर्ण प्रक्रिया
उसके जीवन की !
कहीं कुरूपता नहीं,
बेडौलपना नहीं,
अपने हरेपन में भी
सुंदर है पत्ता
और नष्ट होते क्षण भी
स्वर्णिम तेज से छलकता
सुंदर से सुंदरतम !
❑

हम और तुम

तुम ही
इस चक्करदार
वर्ग-पहेलीनुमां दुनिया का
पथ हो और पथ-प्रदर्शक भी !
तुम ही प्राण हो
हमारी प्रवृत्तियों और
गतिविधियों के।
तुम ही बाग हो
हमारे चारो ओर फैला-पसरा,
और तुम ही हो
हवा में फैली गंध
भांति-भांति के पुष्पों की।
देखते हो
तुम ही हमें साफ-साफ
घिरे संघर्षों
और विसंगतियों में -
और दिखाते हो तुम ही
स्नेह से रखकर पीठ पर हाथ
हमारी त्रुटियां
और करते हो मदद
छुटकारा पाने की उनसे।
रेतीले मरुथल हैं हम
गहरे प्यासे,
और तुम
पावस की प्राणदायी
अमृतमयी रसधार।
❑

वह : एक

फूल नहीं, गंध है वह
बंद नहीं, स्वच्छंद है वह
क्षणभंगुर नहीं,
शाश्वत-सनातन है वह।

आकाश छोटा पड़ जाता है
उसके लिए
और धरती
नन्ही, नाकाफी !

फकत
आत्मा की भाषा समझता है वह,
देह के साथ
जैसे संबंध है
सांस का,
वैसे ही
फकत उसका संबंध है
आत्मा के साथ।
समुद्र मे उमड़े
ज्वार की तरह नहीं,
ऋतुराज की तरह
आता है वह,
द्वार पर दस्तक देता
देहरी पर खड़ा
मुस्कुराता
और गुलमोहर की तरह
खिला देता है

अंतस के
पेड़-पौधों,
लता-गुल्मों को।
कभी आता है वह
आंखों के प्रवेश-द्वार से
तो कभी
कानों की मसलन
और
दिल की धड़कन के साथ
आता है चुपके से।

लेकिन
सुखद है उसका आगमन
क्योंकि
खुशबुओं से
भर जाता है
आसपास का माहौल
और खिंच जाता है
एक इन्द्रधनुष
भीतर के आकाश पर।
❑

वह : दो

बिजली की कौंध की तरह
अचानक
प्रकट होता है वह
आंखों में
और धीरे-धीरे
उतर जाता है हृदय में।

क्या तुम
देना चाहोगे उसे
कोई नाम,
कोई शब्द?
स्मरण रहे -
शब्द तो होता है
महज एक चित्र
भावनाओं का,
जबकि वह ऐसी आग है
जिसे जीने
या झेलने की
ताकत नहीं होती
ठंडेटीप शब्दों में!

सामर्थ्यवान है वह
शब्द असमर्थ है,
अर्थवान है वह
शब्द अनर्थ है,
अव्यक्त है वह
शब्द महज
माध्यम है

उसे व्यक्त करने का !
मूलभूत सत्य है वह
शब्द
परछाई तक नहीं है उसकी
मौलिक है वह
शब्द बेढंगा
अनुवाद है उसका।

उसका नाता
शब्द के साथ नहीं
अशब्द के साथ है
वाणी नहीं कह पाती जो
कह देता है मौन,
मौन को नापसंद है
गुलामी शब्द की।
मौन की भाषा
स्वतः दे देती है संकेत
कि कौन है
जो
अनायास आंखों से उतर कर
विराजमान हो जाता है
हृदय के सिंहासन पर,
कौन ?
❑



अन्तर्धारा विषाद की

देव और दीपक

कमरे में वे सिर्फ दो ही थे -
सामने देव मूर्ति
और पास ही मंद-मंद जलता दीपक।
लोग आते
मन ही मन गुनगुनाते
स्तोत्र-पाठ करते
निःशब्द होठ हिलाते
अंतस के तार मिलाते
कुछ मूक आंसू ढुलकाते
करुणा-विगलित
आर्त्त-पुकार करते
और चले जाते।
मुंदी-मुंदी आंखों से
यह सब देखता दीपक।
सदियों से चला आ रहा था यही क्रम।
देव मूर्ति ने एक दिन
दीपक से कहा :
'मैं तो विवश हूं पत्थर बनकर
यहां बैठे रहने के लिए,
पर तुम क्यों जल रहे हो ?
क्यों जला रहे हो
निरर्थक अपनी देह ?
क्या देखना-दिखाना चाहते हो
यहां रोशनी बिखेर कर ?
मुझे नहीं
उन लोगों को

ज्यादा जरूरत है तुम्हारी,
प्रकाशित करो न जाकर
उनके अंत:करण।'
दीपक बोला
'प्रभु !
वे जो जल रहे हैं प्रतिपल
घिरे यातनाओं से
प्रवंचनाओं और अभावों से,
कष्ट पा रहे हैं जो
दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से,
शब्द तक नहीं है जिनके पास
अपनी व्यथा कहने को,
मैं उन सबका प्रतिनिधि हूं,
प्रतीक !
देखना चाहता हूं,
कब पसीजते हैं आप ?
कब सुध लेते हैं उनकी ?
देखना चाहता हूं,
आस्था और विश्वास की परिणति –
क्या प्रार्थना से भी पिघलते हैं पाषाण ?
सच पूछें
तो प्रकाश की जरूरत यहां ज्यादा है
ताकि देख सकूं,
आपके चेहरे पर आते-जाते भाव
कि आप पसीजते भी हैं
या वाकई
पूजा ने आपको बना डाला है पाषाण ?
❑

अन्तर्वेदना

हमारा हृदय
एक किताब,
दो पुट्ठों के बीच
समायी हुई किताब।
किताब में
हम चाहे जहां
कर सकते हैं अंडरलाइन
और अधबीच में
छोड़ना पड़ जाये उसे
तो रख देते हैं बुकमार्क
या मोड़ देते हैं कोना
उस पेज का!
पर हृदय ?
हृदय तो नहीं हो सकता
अंडरलाइन,
नहीं रखा जा सकता वहां
बुकमार्क!
उसे समझने के लिए
एक तो क्या
ग्रंथ के ग्रंथ हो जाते हैं बेकार!
हृदय को
समझ नहीं पाता
जब कोई दूसरा हृदय
तो किताबें
क्या खाकर समझेंगी ?
उसके वास्ते चाहिये
संवेदना की मद्धिम आंच में तपा
एक अदद कोमल नारी-हृदय
उन्मुक्त!


यथास्थिति

वही तिनकों की झोंपडी
वही धूल उड़ाती
सूनी पगडंडिया
वही सूखे खेत,
सूखे तालाब,
वही अभावों का जंगल
और
दवा-पानी को तरसते
गाँव-
जहां दादा-दादी
नाना-नानी ने लीं
अंतिम सासें,
जहां पिता-माता जन्मे,
जहां मैं
और मेरे भाई-बहन जनमे,
जहां हमारे बेटों-पौतों
नाती-नातिनों ने जन्म लिया।

वही रोजाना का जूझना
वही रोटी की जुगाड़
वही माथे पर छप्पर
और तन पर
कपड़ों की चिंता,
वही जानवरों की तरह
दिन-दिन भर खटना,
पिले रहना।

वहीं गांव को
बपौती समझ कर
ठगों के हुजूम का
आते रहना,
वही हाथ जोड़े
सफेदपोशों का
भीख मांगने आना,
बासी मुंह
राम का नाम लेकर
झूठी कसमें खाना,
सब-कुछ वही-वही !

इतने-इतने वर्षों के बाद
आज भी वही
एक-सा चलता ढर्रा,
वही टूटी झोंपड़ी
वही दवा को तरसता बुढ़ापा
वही दो जून
रोटी को जूझती जिंदगियां,
और वही
कसमों-वादों के
झूठे नारों का
अंतहीन सिलसिला,
सब-कुछ वही-वही !
❑

संवेदना

घर में
दाल पीसने की
भारी-भरकम शिला
गिर पड़ी पांव पर -
छिल गई उंगलियां
उतर गया अंगूठे का नाखून
झनझना उठी पूरी देह
वेदना के मारे,
चेतना तक नहीं रही,
बड़ी देर तक
पांव को पकड़े बैठी रही।
जब थोड़ा चैन मिला
तो देखा
बह रहा था खून अब भी।
याद आया एकाएक
उस दिन कुल्हाड़ी लेकर गयी थी मैं
वन में,
काट लायी थी
वृक्ष की एक बड़ी-सी डाल
तब क्या
ऐसी ही वेदना हुई थी मुझे ?
क्या वृक्ष
कांप-कांप नहीं उठा होगा ?
किसने महसूस की होगी वेदना ?
क्या वृक्ष प्राणहीन होता है
और मैं प्राणवान ?
प्राणवान होकर
किसी के प्राण लेना
क्या एक रिवाज नहीं बन गया ?



उदासी

किसी दिन
ऐसी सुबह होती है
कि अकारण
घबराने लगता है जी
बेचैनी से।
बतियाना अच्छा नही लगता
किसी से,
लेटो, तो लगता है
पिछले जन्मों की वेदना
चुभोती हो नाखून।

छुट्टी के रोज
मन करता है मनाये
कुछ न करने का आनंद,
पर वह भी
मानो लुट जाता है भरे बाजार,
कुछ भी करने का
मन नहीं होता -
न बोलना
न चाय पीना
न रेडियो सुनना
न टी वी. देखना
न गुनगुनाना।

उदासी
जिद्दी कोहरे की तरह
लिपट जाती है आसपास,
आनन्द का सूर्य

न उगने का
हठ करके
छिप जाता है कहीं।
रैक में रखी किताबें
विषादग्रस्त चेहरा लिये
लगता है
जैसे
शोकसभा मे खड़ी हो।

कुछ भी
नहीं लगता अच्छा
लेकिन
भीतर बैठा कवि कहता है
ये क्षण भी
आनन्द मनाने योग्य हैं
क्योंकि
उदासी का भी होता है
अपना निराला आनंद
निराला रंग
निराला उत्सव,
बस, ढंग आना चाहिये हमें
उस जीने का।
❑

विभीषिका

उजड़ चुके हैं गांव के गांव
दाने-पानी की तलाश में
जा चुके है लोग
खाली करके
अपने मकान और झोंपड़े
न जाने किधर
किन दिशाओं मे !

मवेशियों के माथे पर
लगा-लगा कर कूंकूं के टीके
जा चुके है ग्रामवासी
उन्हें अपने भरोसे
मरने या जीने के लिए
छोड़कर ।

जगह-जगह
ठट के ठट
मृत-कंकाल पड़े हैं
गायों-भैसों
भेड़ों-बकरियो के
सड़ते, बदबू मारते,
गीध तक नहीं दिखते
कहीं निर्वंश न हो गये हों !

खेतों में धूल उड़ती है
और आसमान
तपेदिक-ग्रस्त हो गया है

बेवक्त।
सूरज दहक रहा है
इस्पात गलाने की
भट्टी की तरह
और रातें
रातो रोती है
अपनी बदहाली पर।
मीलों दूर तक
नही रहा
पेड़ों का नामोनिशां,
वे लोग आते हैं
कुल्हाड़ियां लिये
रात के अंधेरे में
और ट्रकों मे
लूट कर ले जाते हैं
वन का वैभव
रहा-सहा।

ग्रामवासी
खायें तो क्या खायें -
उबासियां
या गम ?
वैसे पीने को भी
क्या बचा है वहां
कुएं खाली हैं
और आंखें भी!
❑

नया इतिहास

खुद तुमने ही तो
इकट्ठा करके पूरा मोहल्ला
समझाया था अमन से रहना,
कि खुद की
परिवार और मोहल्ले की
तरक्की के लिए
कितना जरूरी है अमन चैन!
तुम ही तो देते रहे थे
हर खास औ' आम को
सहूलियतें और इमदाद
हर तरह की,
सुनाते रहे थे तुम ही गीत
दोस्ती और एकता के,
दिखाते रहे थे नजारे
इंसानियत के
खुशहाली और तरक्की के।
तुम्हारे कहने से ही तो
मोहल्ले भर ने
तोड़ फेंकी थी लाठिया
जला डाली थी बर्छियां
कुदालें और छैनियां तक
डाल आए थे कुएं में।
दूर दूर तक यश फैला था तुम्हारा
फिजां में व्याप्त थीं
मिसालें तुम्हारी,
मिसाले दोस्ती की

इमदाद की
ज्ञान-विज्ञान और सुरक्षा की,
विवेक और इंसानियत की।
लेकिन यह क्या ?
कमर क्यों तोड़ डाली तुमने
उस गरीब की, दिन दहाड़े ?
बरबाद क्यों कर डाला तुमने
उसका आशियाना ?
क्या इसलिए, कि मेहनती था वह ?
दिमाग़दार था ?
खेत सोना उगलते थे उसके?
परिवार सुखी था उसका ?
अरे !
लाठी तक नहीं थी उसके पास
तुम्हारी बरछी के मुकाबले !
क्यों किया ऐसा ?
कोई जवाब है तुम्हारे पास ?
अब कौन भरोसा करेगा
तुम्हारी जबान का ?
क्या यह कोई
नया फलसफा है अमन का ?
कौन नहीं हो जाएगा चौकन्ना
तुम्हारे इस दोगले चरित्र से ?
क्या इतिहास
नया ही अध्याय नही लिखेगा
तुम्हारी दुर्नीति का ?
तुम्हारे छद्म का ?
❑

मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए नामांकित कीं चार दिशाएं। इन चारों दिशाओं के अपने-अपने स्वरूप और ससार हैं। इस लय को समझने के प्रयास में मधु सोनी ने भी अपने "भीतर का उन्मुक्त आकाश" को चार खण्डों में शब्दांकित किया है। इन चार खण्डों के व्यक्त ससारों के अपने रंग हैं। एक शक्ल आदमी है, दूसरी औरत है, अकाल है, हरियाली है और शान्ति एवं विश्वबंधुत्व के पुरोधा का छद्म भी। बाहर के रंगों में से भीतर के पोंछे भी झांकते हैं · "डरता है आदमी रफ्तार से, वक्त की मार से, बदलाव से .. उसकी नियति में लिखा है यही .. मौत आने से पहले डरता रहे और मरता रहे..."।

'अन्तर्याय विषाद की' की रचनाए मधु के संवेदन और दृष्टि से परिचित करवाती हैं। निरे छोटे कस्बई परिवेश की अभ्यस्त मधु के यहां महानगरीय हलचल भरी चीजें भी हैं। इन चीजों के प्रति वह अपना मोहभंग दर्शाती है। यह सब देखती हुई नई-पुरानी रूढियों को भी छूती है। इस सन्दर्भ में 'देव और दीपक" का सवाद पठनीय है। नया सोच है वहां!

किंचित अभिधात्मक और वर्णनात्मक पंक्तियों को परे रखते हुए समग्र रूप में इन रचनाओं के भीतर झाका जाए तो एक औरत अनेक रूपों में प्रश्न पूछती हुई और उत्तर खोजती हुई दिखेगी। भोगता तो तन्त्र बुनने वाला भी है पर तन्त्र में छट-पटाकर जीते हुए मुक्ति की कामना से लिपटी उसकी वेदना का आकार और रंग बुनकर से निरा अलग ही होता है।

पाठक के रूप में ऊपर कह ही चुका हूँ कि अव्यक्त को व्यक्त करने में भाषा और रग के औजार ओछे पड जाते हैं। मधु भी अपने दो रूपों को उगटाने में एक उपयुक्त भाषा के लिए अपने आप से लडती हुई दिखती है। यह लडत शुभ सकेत है उसके रचना ससार के लिए।

हरीश भादानी